संस्कार

कुणाल सिंह

मेरे पास पिता की एक तसवीर थी जिसे पुराने कागज-पत्तरों की फाइल में सँभालकर रखा हुआ था. कभी उन्होंने किसी काम पड़े, पासपोर्ट साइज में उतरवाया होगा जिसे मैंने युवावस्था के अपने उत्साही दिनों में एनलार्ज करवा लिया था. ब्लैक एंड व्हाइट. सीधे कैमरे की तरफ देखते, उसके करिश्मे के समक्ष थोड़े अकबकाये हुए-से. ऐसा प्रतीत होता था कि वे कुछ कहने जा रहे थे और अन्त समय में अपना मन बदल लिया. उनकी भंगिमा में कहीं दूर-दुर्गम से सलामत वापसी के समृद्ध संस्मरण और आसपास के टुच्चे दुनियावी लोगों के बीच उन्हें न बाँट सकने की झुँझलाहट एक साथ मौजूद होती. सफलता-असफलता के दोटूक पैमाने को महज समझने की सहूलियत के लिए यहाँ उन पर लागू करें तो वे एक सफल कवि और असफल गृहस्थ थे, हालाँकि वे इतने भी सफल कवि न थे कि उनकी किताबें छपी हों और इतने असफल गृहस्थ भी नहीं रहे कि हमें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी हों. बगैर किसी साफ-स्पष्ट बँटवारे के उनके चेहरे पर समृद्धि और विपन्नता के दोनों विपरीत भाव मेरे लिए कुछ यों थे कि तसवीर देखते हुए यदि मैं पहले से उत्साहित होता तो उसमें और बढ़ोत्तरी हो जाती और अगर मैं निराश होता तो मेरी निराशा एकबारगी अवसाद का धरातल छूने लग पड़ती. इसीलिए रेनू ने उनकी इस तसवीर को ड्राइंगरूम से हटा दिया था और उनकी एकमात्र निशानी के तौर पर इसने मेरी फाइलों में पनाह पायी.

पिता सरकारी किरानी थे, किन्तु हैसियत में अपने समकक्षों से सदा कमतर ही रहे आये. न सिर्फ रेनू वगैरह, बल्कि जमाने की आम समझ से कदमताल करते हुए कहीं-न-कहीं मैं भी यह मानने लगा था कि यह उनके काव्य-संस्कार ही थे जिन्होंने दुनियादारी में सफल होने के लिए उन्हें किसी प्रकार का समझौता नहीं करने दिया. साहित्य ने उनकी जीवन-शैली को उन आदर्श मूल्यबोधों के सहयोग से आकार दिया था जो दुर्भाग्यवश चलन से बाहर होते जा रहे थे. वे समय रहते इन आसमानी मूल्यबोधों का जमीनी स्थानापन्न निर्मित न कर सके, इसलिए असफल करार दे दिये गये.

लेकिन इतने पर भी रेनू को सदैव लगा किया कि पिता को असफल कहने और मानने से मैं महज उनके पुत्र होने के नाते नहीं कतराया करता, बल्कि इसके पीछे और भी कुछ हो सकता है. दरअसल वह विज्ञान की छात्रा रही थी, सो उसे पूरा यकीन था कि पिता से होते हुए साहित्य-प्रेम का कीड़ा मेरे अन्दर भी आकर कहीं छिपा बैठा होगा और कभी भी अपने पूर्णाकार में सामने आ सकता है. यद्यपि मैं कवि न था लेकिन मुझे पढ़ने का शौक था, इसलिए रेनू को हमेशा डर लगा रहता था. कभी-कभी वह मुझे कुछ सोचते देखती तो रँगे हाथों पकड़ लेने के भाव से पूछ बैठती कि क्या चल रहा है. मैं भले कुछ खास नहीं सोच रहा होता, लेकिन जल्दी से कह बैठता कि म्यूचुअल फंड्स में इनवेस्टमेंट की बाबत सोच रहा हूँ. इससे उसे राहत मिल जाती कि मैं दुनिया के साथ कदम मिलाते हुए चलने का प्रयास कर रहा हूँ. ऐसे मौकों के बाद शाम को चाय के साथ कभी नमकीन भी हो जाता या फिर रात के खाने के साथ कुछ मीठा. वह हमेशा मुझे प्रोत्साहित किया करती कि कमाई का स्रोत बढ़ाऊँ, बीमा करवाऊँ, फिजूलखर्ची न करते हुए बचत करना सीखूँ. वह चाहती, कम-से-कम इतना हो कि अपने बड़े होते बेटे के लिए मैं अपने पिता की तरह का पिता न बनूँ.

बेटा बड़ा हो रहा था और उसके प्रति हम दोनों ही अपने बर्ताव को भरसक परिपक्व बनाने की कोशिश में थे. इसी क्रम में हम उससे कभी-कभी उन मुद्दों पर भी बातचीत करने का यत्न करते, जिनमें देखा जाए तो उसकी रायशुमारी की वैसे कोई जरूरत न होती. यह बस एक प्रयास या कहें अभ्यास के तौर पर होता. हमें लगता, वह इसे भाँप जाता. जोर देने पर कभी गोलमोल-सा कुछ कहता और कभी मुस्कराकर हमें हमारे हाल पर छोड़ता हुआ अपने कमरे में चला जाता. सचाई यह थी कि उसकी बदलती अवस्था को लेकर हम हमेशा पसोपेश में रहते, ठीक-ठीक समझ में न आता कि हमें क्या करना चाहिए और कितना. सन्दर्भ के तौर पर खुद के बचपन से किशोर होने की स्मृति व अनुभव जो

चित्र : राजेंद्र गायकवाड़

हमें धुँधले-से कुछ याद रह गये थे, आज के जमाने में किसी काम के न लगते.

इस सिलसिले में हमारा सबसे पहला ठोस कदम था, उसके सोने और पढ़ने के लिए अलग कमरे का बन्दोबस्त. दो कमरों का फ्लैट था, एक हमारा मास्टर बेडरूम जिसमें अब तक हम तीनों सोते आये थे और दूसरा कमरा रेनू के पूजा-पाठ और एक हद तक किसी संस्कारित स्टोररूम के रूप में व्यवहार में आता था. मिसाल के तौर पर राशन हम महीने-भर के लिए इकट्ठा लेते तो किचन में काम-भर का रखकर बाकी स्टॉक इसी कमरे में रहता. बेटे का कम्प्यूटर टेबल, बाल्कनी में तुलसी तथा फूलों के इक्का-दुक्का पॉट और उससे लगे कोने में बेटे के वे खिलौने रखे थे जिनसे खेलना अब उसने बन्द कर दिया था– टूट चुका लकड़ी का वह भारी पालना जिसे तंगदस्ती के दौर में मैंने अपनी चौथाई तनख्वाह देकर मोला था, तिपहिया साइकिल जो अब कहीं-कहीं से जंग खा रही थी, टेंटहाउस का तम्बू, काँच के कंचों वाला लूडो वगैरह. कहना न होगा, इनसे न सिर्फ बेटे के बचपन की स्मृतियाँ, बल्कि हमारा भी नॉस्टैल्जिक किस्म का रोमान जुड़ा था जब पाई-पाई जोड़कर हमने यह घर बसाया था और खर्च में कटौती कर हर महीने उसके लिए कुछ-न-कुछ लिया करते थे. कमरे का पुनःसंस्कार करने के लिए हमने अपने को समझाते-बुझाते इन चीजों को जाने दिया. रेनू ने बड़े जतन और परिश्रम से उस कमरे को सजाया, कुछ इस तरह कि वह सॉफ्ट ट्वायज और कॉमिक्स के चरित्रों की प्रतिकृतियों से सजा किंडरगार्टन भी न लगे और न उसमें वयस्कों के ठिकानों की वैसी बोझिलता हो. यही विवेक और सन्तुलन उसके प्रति हम अपने व्यवहार में भी लाना चाहते थे. न अब वह गोद में उठाया जाने वाला बच्चा था और न अभी उसे अकेले अपनी जिम्मेदारी पर छोड़ा जा सकता था.

कमरे को तैयार करते हुए हम, बल्कि मुझसे ज्यादा रेनू मिश्रित भावनाओं से जूझ रही थी. एक तरफ तो वह तरह-तरह के विडियोज देखकर कमरे को तरतीब देती जा रही थी, दूसरी ओर इस काम में बेटे को सोत्साह हाथ बँटाते देख उसे बुरा भी लग रहा था. इस पर भी कमरे को तैयार कर लेने के बाद उसे पूरी उम्मीद थी कि बेटा अपने अकेले सोने के प्रबन्ध को आसानी से न अपना सकेगा. हमारे साथ सोते हुए वह सदैव अपनी माँ से चिपटकर सोता था और मुझ पर रेनू की यह बढ़त हमेशा से रही आई. लेकिन जब पहली रात हम दोनों को 'गुडनाइट' बोलकर वह खुशी-खुशी अपने कमरे में सोने चला गया, देर रात तक इसमें असफल होकर वापस न आया और रेनू जब यह झाँक आई कि वह अपने बिस्तर पर नींद में गाफिल है, तो उसे चादर ओढ़ा आने के बाद मास्टर बेडरूम में आकर मेरे बाजू लेटते ही वह बरबस फूट पड़ी. मुझे भी अच्छा न लग रहा था और हम विवाह के बाद बेटी को विदा कर चुके किसी माँ-बाप की तरह सुबह होने तक करवटें बदलते रहे.

बेटे का जब जन्म हुआ, रेनू अपने पीहर में रहा करती थी और मैं नौकरी के सिलसिले में साढ़े सात सौ किलोमीटर दूर अन्य प्रान्त में. मेरी आमदनी तब इतनी न थी कि माँ-बेटे को अपने साथ रख सकूँ. चार-छह महीने में बमुश्किल दो-चार दिनों के लिए जाता तो हर वक्त उसे गोद में लिये फिरता. बेटा मुझे पहचानने लगा था. मैं हरचन्द कोशिश में था कि किसी भी युक्ति से उसे और रेनू को अपने साथ रखूँ. लेकिन बेटे के चार साल के होने तक ऐसा कतई सम्भव न हो सका. मैं खुद के नसीब को कोसा करता कि बेटा न मेरी आँखों के आगे जनमा, न उसे पहली बार पाँव-पाँव चलते देखने का सौभाग्य ही मुझे प्राप्त हुआ. जीवन की इस शुरुआती अवस्था में रेनू ही उसके लिए सबकुछ थी. इसलिए बाद में जब हम साथ-साथ रहने लगे, मेरा बेटे के प्रति और बेटे का अपनी माँ के प्रति अधिक झुकाव रहना स्वाभाविक था.

रेनू का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत शान्त, सुलझा और सलीकेदार था और वह उससे हमेशा एक सन्तुलित दूरी बनाकर रख सकने में कामयाब होती थी. बेटा उससे हिलगा हुआ होकर भी कभी इतनी छूट नहीं ले पाता कि उसकी बातों को नजरअन्दाज कर दे. कभी कोई सब्जी जो उसे पसन्द न होती और किचन में रेनू को उसी की तैयारी करते देखता तो उससे कुछ न कहते हुए सीधा मेरे

पास आता.

"पापा, आज पनीर खाने का मन है." वैसे वह छोटा ही था, लेकिन ऐसे अवसरों पर अपनी उम्र एक-दो साल और कम कर लेते हुए लगभग तुनकने के अन्दाज में कहता.

अभी-अभी दफ्तर से लौटा मैं उसकी इस छोटी-सी राजनीति से अनजान, उसकी हाँ में हाँ मिलाते हुए रेनू से मटर पनीर की सिफारिश करने लगता. लेकिन इतने पर भी जब रेनू अड़ ही जाती कि "नहीं, यह हरी सब्जियाँ खाना नहीं चाहता और आप भी इसके कहने में आ जाते हैं!" तो मैं बीच से हट जाने में ही भलाई समझता. ऐसे बिन्दुओं पर मुझे हमेशा महसूस होता कि इसके तार कहीं उन वर्षों से जुड़े हैं जहाँ माँ-बेटे के साथ मैं न हुआ करता था. कुछ ऐसा ही तब भी हुआ करता जब पढ़ाई में ढील के बाद अथवा सामान्य व्यवहारगत भूलों पर उसे रेनू के प्रकोप का सामना करना पड़ता. मैं अपने सामान्य वक्तव्यों के साथ (नहीं यह ठीक नहीं, थोड़ा ध्यान रखा करो बेटे, अब तुम बड़े हो रहे हो!) किनारे-किनारे मँडराता रहता, माँ-बेटे के बीच में पड़ने से उसी प्रकार संकोच महसूस करता जैसे किसी घर के अन्दरूनी मामले में पड़ने से उनके सभ्य पड़ोसी कतराते हैं.

मुझे लगता है कि शादी के बाद के वे साल जो रेनू ने अपने मायके में बिताये, बेटे को जन्म दिया, उसका प्री-स्कूल में दाखिला वगैरह, इन आरम्भिक वर्षों में उसके कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ी मेरी अनुपस्थिति ने हमारे परवर्ती जीवन के मानचित्र में बड़ा और संरचनात्मक बदलाव घटित किया. उसके मायके में सब थे, लेकिन मैं न था और शौकिया नहीं, बल्कि अपनी आर्थिक मजबूरियों के चलते न था. इसने हमारे आज के जीवन की नींव रखते हुए हमेशा के लिए हमारी भूमिकाएँ तय कर दीं. अपनी उस कमतरी के अहसास से मैं आज तक नहीं उबर पाया. रेनू और बेटे के प्रति मेरे दिलदार रवैये का कारण यह था कि मैं आज भी उनके प्रति स्वयं को कर्जदार महसूस करता था.

"बीते हुए समय की भरपाई नहीं की जा सकती, कुणाल." रेनू कहती, मुझे अपमानित करने के लिए नहीं, बल्कि उन चार सालों की कसर जो मैं बेटे को अनावश्यक छूट देते हुए एकबारगी पूरी कर लेना चाहता, उसे बरजने की खातिर. मुझे लगता है कि इन वर्षों ने ही रेनू को स्थिर, व्यावहारिक और किंचित् अरसिक बना डाला था. अधिक लाड़-प्यार के कारण बेटा मेरी ओर से जितना निश्चिन्त रहा करता, अपनी माँ की ओर से नहीं. आम हिन्दुस्तानी मध्यवर्गीय परिवारों की तरह हमारे घर में यह जुमला कभी न चला कि आने दो पापा को बताती हूँ. उल्टा मैं ही कहा करता, यह या वह मत करो, मम्मा डाँटेगी.

शुरुआती जमाने पढ़ने के दौरान हमने उसका ट्यूशन नहीं लगवाया था, रेनू ही उसका मार्गदर्शन किया करती. देर शाम घर में मेरे प्रवेश के साथ ही वह एकाएक अपनी किताब-कॉपियाँ समेटकर हुड़दंग मचाने लगता मानो मेरे आने का ही इन्तजार कर रहा हो. इसके बाद उसे वापस पढ़ने बिठाना नामुमकिन होता और रेनू रात के खाने की तैयारी में जुट जाती. मुझसे कोई न कोई माँग उसकी बनी ही रहती– कैरम, स्केटिंग किट, एवेंजर का कोई पुतला, पोकेमॉन कार्ड्स, रबड़ के डायनासोर, रंगीन पेंसिलें, और भी जाने क्या-क्या! वह इनकी माँगें अपनी मम्मी से परे हटकर रखता और कोशिश करता कि इनके आने से पेश्तर रेनू को भनक तक न लगे, वर्ना वह मना कर देगी. कई बार इससे सम्बन्धित कोई बात हम बाप-बेटे इशारे-इशारे में करते. रेनू सब समझती, कभी मुझसे कहती कि बच्चे को बिगाड़ रहा हूँ तो कभी उससे कहती, कर लो मनमानी, हॉस्टल में डाल दूँगी तब समझ में आएगा.

लेकिन उस पहली रात जब मैंने रेनू को ढाँढ़स बँधाते हुए यह कहा कि तुम तो हमेशा कहती थीं कि इसे बोर्डिंग स्कूल में डाल देना है, तब कैसे रहतीं जो अब ये हाल हैं! आखिर बगल के कमरे में ही तो है, सँभालो अपने को. इस बात पर संयोजित होने की बजाय रेनू ने मुझसे कहा कि अब आप तो चुप ही रहिये. मेरी समझ में कुछ न आया और सोचा कि कल दफ्तर में मीटिंग है, मुझे सो जाना चाहिए. लेकिन बेटे की अनुपस्थिति से बेड खाली-खाली लग रहा था और हम पति-पत्नी के बीच काफी दूरियाँ आ गयी थीं. रेनू जाग रही थी लेकिन दूसरी करवट थी, बीच-बीच में उसकी पीठ सुबकती. यह नजारा आँखों के आगे रहेगा तो आती नींद भी न आयेगी, सोचकर मैंने दूसरी तरफ करवट ले ली और सो जाने तक जागता रहा.

"आप तो चुप ही रहिये." यह वाक्य अपनी बनत में अत्यन्त सरल, संक्षिप्त और विनयशील होते हुए भी अपने मन्तव्य में निर्भय, बेलाग व धारदार था. यह उस माँ की तिलमिलाहट से जनमा था जिसका अंश दुबारा उसकी देह से टूटकर अलग हुआ हो. उसकी कोख से निकल अपना स्वतन्त्र आकार ग्रहण करने के बाद आज बेटा उसके अक्ष से तनिक और बाहर होते हुए अपना स्वतन्त्र प्रकार प्राप्त कर रहा था. धीरे-धीरे बेटे से माँ के गर्भ के संस्मरण छीजते जा रहे थे. यह उस माँ का ऐकान्तिक दुःख था, जिसमें बाप होते हुए भी मेरी कोई प्रत्यक्ष हिस्सेदारी न थी. इसे एक माँ ही समझ सकती थी, इसलिए बीच में न पड़ते हुए मुझे तो चुप ही रह जाना चाहिए था.

मैं वहाँ पूर्णतः बाहरी था. मैं वहाँ नहीं था जब बेटा अपनी माँ की कोख से प्रसूत हुआ. मैं तब भी मौजूद न था जब उसने पहली बार उसकी गोद से अलग होकर धरती का स्पर्श किया. क्या वह हर बार उससे इस तरह जरा-जरा छिटकते रहने के बाद रोयी थी?

मुझे याद है, अपने ननिहाल में जिन दिनों बेटा स्ट्रोलर के माध्यम से घिसटकर चलने का अभ्यास किया करता था, वह हमेशा रेनू के इर्द-गिर्द ही मँडराया करता. घर के छिटपुट कामों में

लगी-बझी रेनू का भी आधा ध्यान सदा उसी पर केन्द्रित रहता. वह इसके हाव-भाव को भली-भाँति समझती थी– पास आकर अपने हाथों को ऊँचा करते हुए 'हू-हू' की ध्वनि करना, मतलब वह स्ट्रोलर में रहते-रहते थक गया है, अब गोद में आना चाहता है, गोद में आकर उसकी गर्दन-कन्धों से बेतहाशा अपने चेहरे को रगड़ने का मतलब अब उसे भूख लगी है, दूध पीना है. उसे समझने के मामले में रेनू का सर्वाधिकार सुरक्षित था. हाथ-मुँह के सीमित संचालन एवं गिनी-चुनी ध्वनियों की मार्फत वह अपने आशय स्पष्ट करना चाहता. भूख, नींद जैसी आदिम आवश्यकताओं के लिए उसके पास उलझे हुए इंगित थे, जिन्हें समृद्ध समझदारी में सफलता से अनुवाद कर लेने का कौशल सिर्फ रेनू के पास था. उसके इर्द-गिर्द के लोग रेनू की मदद लेते कि यह क्या कहना अथवा करना चाहता है.

गहरी और चोखी दैनिक नियमबद्धताओं के आसरे अब तक सुचारु रूप से संचालित होते आये रेनू के मायके में बेटा अपने जन्म के बाद से मधुर व्यतिक्रम ले आया था. प्रायः अपने में अकेले और निमग्न रहने वाले रेनू के पिता उसे गोद में लिये-लिये फिरते तथा उसकी माँ बिसरा चुकी लोरियों का आवाहन करतीं. इन सबसे घिरे रहने के बावजूद यह रेनू थी जिसका तवज्जो वह हमेशा चाहता था. अपनी नजरों से उसके दूर होते ही वह रोने लगता था. रेनू की उपस्थिति उसे आश्वस्त करती थी. रेनू की अनुपस्थिति उसका पहला भय था. किसी कमरे में, किसी खिलौने के साथ उलझा हुआ है, वह रेनू को भूला हुआ है, कि इतने में कहीं दूसरे कमरे से रेनू की आवाज सुनाई पड़ती है. वह अपनी व्यस्त नजरों को उठाते हुए चारों ओर देखता है और दृश्य की जद में रेनू को न पाकर सहसा रोने लगता है. रेनू दौड़कर आती है और उसे अपनी गोद में उठा लेती है.

उन दिनों वह बस माँ के दूध पर पलता था. तनिक बड़ा होने के बाद जब वह सेरेलैक्स आदि बेबी फूड्स अथवा उबाली हुई सब्जियाँ वगैरह खाने लगा होगा, क्या रेनू ने ऐसा ही महसूस किया होगा जैसा अब कर रही है? मैं वहाँ नहीं था, लेकिन कल्पना करता हूँ, घर के अन्यान्य सदस्यों के साथ रेनू रात का खाना खा रही है. रेनू के गम्भीर पिता, जिन्हें देखकर बरबस ही किसी टापू की खुदमुख्तारी का ध्यान हो आता है, एक तरफ बैठे होकर भी जैसे सबके केन्द्र में हैं. दूसरी तरफ शादी के बाद भी मायके में रहने को मजबूर रेनू और कॉलेज में पढ़ने वाले उसके छोटे भाई-बहन. इन दो ध्रुवान्तों का पारिवारिक मोर्चे पर सफलतापूर्वक मेल कराने में घुलती-बहती उसकी माँ. तश्तरियों, चम्मचों के उठाने-रखने की आवाजें, सफेद मेजपोश पर अंकित होते काँच के बर्तनों व अचार की शीशियों के प्रकाश वलय, व्यंजनों की सुगन्धि और भाप, मुँह के कौर को सलीके की धौंस में चबाने की दबी ध्वनियाँ इन्हें आपस में घरेलू गर्मजोशी से जोड़ती हैं. बेटा नीचे स्ट्रोलर पर है, डायनिंग टेबल पर बैठे लोगों के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहा है. वह जिसके पास पहुँचता है, वही अपनी थाली से एक छोटा टुकड़ा तोड़कर चिड़िया की तरह उसके लाल खुले मुँह में डाल देता है. बेटा फौरन उसे अपने नरम मसूढ़ों से चबाने-चुभलाने में व्यस्त हो जाता है. रेनू देखती है, और चुपचाप अपनी थाली पर नजर केन्द्रित करना चाहती है. सहसा थाली में परसे गये व्यंजन आँसुओं की तरलता में एक-दूसरे के रंग में रँगने लगते हैं.

दूध से अन्न तक पहुँचना एक अध्याय के समाप्त होने के बाद दूसरे अध्याय का आरम्भ था. होता क्या था कि रेनू अभी पहले पायदान पर ही लिथड़ रही होती कि बेटा घुटनों के बल रेंगता हुआ दूसरे पर जा पहुँचता. रेनू के अन्तर्मन में अभी पहली छवि ठीक-ठीक स्थापित होती कि इतने में बेटे के नक्श बदल जाते. अगर कि मैं वहाँ मौजूद होता और रेनू की भावनाओं को समझते हुए उसके कन्धे पर अपना हाथ रखकर कहता कि इसे तो होना ही है, यह उसका सहज विकास है, इसे अवरुद्ध नहीं किया जा सकता, तो मुझे पूरा यकीन है कि मेरे हाथ को झटकते हुए वह यही कहती, "अब आप तो बीच में मत ही पड़िये."

रेनू कर्मठ और कटिबद्ध स्त्री थी. सामान्य कद, सुदृढ़ कन्धे और पुष्ट देहयष्टि. नपे-सधे कदमों से चलती और बहुत कम आवाजें करती. उसकी उपस्थिति घर के स्थापत्य में नींव की तरह थी. घर में भी सुरुचिपूर्ण पहनावे में रहती, बाल कसकर बाँधती और आवश्यकतानुरूप ही हँसती. जबकि मेरा स्वभाव था कि मैं किसी भी बात को गम्भीरता से लेने के पहले उसके बारे में कुछ मजाक जरूर करता. यह कुछ ऐसा था कि घर में प्रवेश करते ही, सम्भवतः रेनू द्वारा निर्मित एकतान गम्भीर और शान्त वातावरण ही यकायक मुझे खिलन्दड़ा बन जाने को प्रेरित करता. ऐसा करते हुए मुझे लगता कि मैं किसी कमी को पूरा कर रहा होऊँ, भार को सन्तुलित करना मेरी जिम्मेवारी हो. गम्भीर से गम्भीर स्थापनाओं और धारणाओं तक पहुँचने का मेरा रास्ता भी चुहल और हास्यरस से सराबोर होता. जब आप प्रायः हर बात को मखौल में बदल डालने के अभ्यस्त हों तो यह कई बार सामने वाले को आहत कर देता है. कभी-कभी ऐसा होता कि रेनू की किसी गम्भीर बात की तह में गये बिना मैं उससे तुक मिलाते हुए कोई हल्की बात बोल जाता, जिसका यद्यपि एकमात्र उद्देश्य हास्य का सृजन ही होता, लेकिन इससे तत्काल ही रेनू की बात की समस्त गरिमा ध्वस्त हो जाती.

कई बार यह बेटे की मौजूदगी में होता जो कि कतई उचित नहीं कहा जा सकता. यही नहीं, एकाध अवसरों पर बेटे के साथ दिल्लगी में उसने जब बराबरी का प्रत्युत्तर दिया तो रेनू बिदक गयी. बेटे के प्रति अपने व्यवहारगत संशोधनों की आवश्यकता को भीतर-भीतर महसूस करते हुए भी जब-जब रेनू इस बाबत कुछ टोकाटाकी करती, मैं हँस दिया करता. उसे आश्वस्ति देते हुए

कहता, "चिन्ता न करो, सब ठीक होगा." आम भारतीय मध्यवर्गीय परिवारों में अनुशासनप्रियता, नियमबद्धता, कठोरता, गाम्भीर्य जैसी क्रियाएँ मिलकर पिता की पारम्परिक अवधारणा का निर्माण करती हैं. रेनू का बचपन पिता की ऐसी ही छवि की छाँव में बीता था. वह सख्ती से मानती थी कि पिता को प्रथमतः और अन्ततः पिता ही होना चाहिए, वह अपनी सन्तान का मित्र नहीं हो सकता. प्रत्यक्षतः पिता की इस सामन्ती अवधारणा का कायल न होते हुए भी मैं इसका मुखर प्रतिवाद करने से अकसर इसलिए बचा करता था कि मुझे डर होता, बहस का अन्तिम सिरा मेरे कवि पिता तक पहुँच सकता है.

मुझे नहीं पता कि ऐसा उनके काव्य-संस्कारों की वजह से था अथवा यह उनकी चारित्रिक विशेषता ही थी, कि पिता ने कभी किसी से ऊँचे स्वर में बात नहीं की. न सिर्फ बाहरी लोगों से, मेरे जानते कभी अम्मा से भी नहीं. मेरी स्मृतियों में शेष उनकी छवि बोलती अथवा आदेश देती नहीं, समझती अथवा समझाने के यत्न में शब्द टटोलती-सी छवि थी. सबसे ज्यादा मेरी यादों में बची हैं उनकी आँखें, छोटी-छोटी. रहमदिल झुर्रियों के बीच अपनी निस्पृह आर्द्रता में टिमटिमातीं. कई बार शेविंग करते हुए, या ऐसे ही कभी आईने के आगे मैं अपनी आँखों में उनकी आँखों की वह जोत न पाकर निराश हो जाता हूँ.

मैं नहीं जानता, उनका समय कैसा था और अपने समय की चुनौतियों से दो-चार होने के लिए उन्होंने व्यक्तिगत रूप से किन कौशलों को सिद्ध किया होगा. वे झुके हुए रहते, दबे-ढँके हुए. उजागर होना उन्हें पसन्द न था, सम्भवतः इसीलिए मेरे पास उनकी कोई छपी हुई रचना न थी. यह उनकी सदाशयता थी, झेंप थी अथवा क्या था, उनके जीवन के फलसफे से अपनी अनभिज्ञता के कारण मैं इस पर कोई फैसला नहीं सुनाना चाहता. रेनू तथा अन्यान्य के लिए जितना आसान था एक झटके में उन्हें असफल करार देते हुए उनके साहित्यिक संस्कारों को इसके मूल में स्थापित कर देना, उतना शायद मेरे लिए नहीं. और ऐसा महज इसलिए नहीं था कि मैं उनका जाया हूँ. सचाई यह थी कि मैं जितना उनकी सफलता-असफलता को लेकर दुविधा की स्थिति में था, लगभग उतना ही शशोपंज इस स्थापना को लेकर भी मेरे मन में रहा आया कि कवि या बुद्धिजीवी होना व्यावहारिक जीवन में असफल होने का पर्याय है. मैं अपने पिता के समय को नहीं जानता, लेकिन मेरे समय तक आते-आते दुनिया लगभग एकमत हो चली थी कि साहित्य किसी काम का नहीं, किताबी ज्ञान रखने वाला व्यावहारिकता में शून्य होता है, बुद्धिजीवी होना हास्यास्पद हो जाना है.

रेनू की बदौलत मैंने इतने तक का समझौता तो कर लिया था कि मेरे पिता के विपरीत अपने जीवन में तथाकथित सफलता को पाने के लिए ये अनिवार्य हो चले झूठ मेरे बेटे को बोलने होंगे, वह बोले, लेकिन मैं बस इतना और चाहता था कि वह इन्हें अन्ततः झूठ का ही दर्जा दे, कभी इन्हें सच का ओहदा न बख्शे. वह इस बारे में सदा सचेत रहे. मेरी दिली ख्वाहिश थी कि यह सचेतनता उसे मुझसे न सही, मेरे पिता की आनुवांशिकी से जरूर प्राप्त हो, भले इसकी कीमत चुकाने के लिए उसे थोड़ी-बहुत असफलता का स्वाद क्यों न चखना पड़े. कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं यह रेनू से छिपाकर चाहता आया था.

यद्यपि मैं बुद्धिजीवी न था, लेकिन रेनू को सदा डर लगा रहता था. आखिरकार मैं उसका पति था, वह मुझे अपने समाज में हास्यास्पद नहीं बनने देना चाहती थी. अपने समय-समाज को लेकर उसकी समझ साफ थी. आने वाले समय की रूपरेखा कैसी होगी, कौन-से मूल्यबोध कतई काम के नहीं रहेंगे और उनके स्थानापन्न क्या हो सकते हैं, इन्हें लेकर उसके मन में किसी प्रकार का द्वैत न था. आपसी बातचीत में उसके वाक्य-विन्यास संक्षिप्त, इकहरे और ठोस होते. किसी प्रकार की काव्यात्मकता, अलंकरण, कल्पना अथवा अमूर्तन उसे मलिन, सन्देहास्पद व असंस्कारी प्रतीत होता. यह कहा जा सकता था कि मेरा सिर चकरा रहा है, वह सहसा चिन्तित हो जाती, दवाइयों का डब्बा निकालकर बैठ जाती, लेकिन यदि कहा जाए कि ऐसा लग रहा है मानो आसमान टूट पड़ रहा है अथवा धरती डोल रही है, तो वह वहीं खड़ी सशंकित होकर देखने लगती.

वह सर्वदा उन मुद्दों को तरजीह देना पसन्द करती, जो आँखों के आगे प्रत्यक्ष हों और जिनका सम्बन्ध अतीत अथवा भविष्य से कम, वर्तमान से अधिक व सीधा-सीधा ठहरता दिख रहा हो. जहाँ मैं बेटे की अभिरुचियों की पतली डोर के सहारे उसके भविष्य की नाना सम्भावनाओं को लेकर तवील उड़ानें भरता, वहीं वह उसके तात्कालिक होमवर्क व प्रोजेक्ट्स पर तवज्जो देना पसन्द करती. मेरा बल रहता कि बेटे के विचारों का मार्जन करूँ, रेनू उसके व्यवहारों की समीक्षा करती. उसका अधिकांश समय इस देखभाल में व्यतीत होता कि बेटा समय पर पढ़ने बैठ जाए, कॉलोनी के पार्क में नियमित खेलने जाया करे, उसका आहार सन्तुलित हो, उसके मनोरंजन स्वस्थ हों.

प्रथमतः मैं रेनू के इन प्रयत्नों में सहायक होकर ही उतरता, किन्तु शीघ्र इस पर तवज्जो देने लगता कि जैसे-तैसे होमवर्क-भर पूरा न कर वह इस बहाने सदा-सर्वदा सँजोकर रखी जाने वाली कोई सीख ग्रहण कर सके, पार्क में अन्य बच्चों के साथ खेलते हुए अगर उससे कोई गलती हो जाए तो महज फर्ज अदायगी की तरह सॉरी बोलकर मुक्त हो जाने की बजाय अपनी गलती को इस तरह महसूस करे कि आइन्दा न हो. मैं बल देता कि स्कूल में मिले होमवर्क अथवा प्रोजेक्ट्स उसे खुद पूरे करने चाहिए, चाहे वे

अनगढ़ और असम्पूर्ण क्यों न हों. जबकि रेनू का मानना था कि आजकल अभिभावक अपने बच्चों के प्रोजेक्ट्स पूरा करने में सक्रिय भागीदारी रखते हैं, सो हमें भी उसकी मदद करनी चाहिए. मदद करने के नाम पर कई बार तो ऐसा होता कि वह एक तरफ चुपचाप बैठा देख रहा होता और पूरा का पूरा प्रोजेक्ट रेनू सम्पन्न करती. मैं इसे गलत मानता, लेकिन अक्सर चुप रह जाता. मेरे इस तरह चुप रह जाने को बेटा गौर करता तो मैं आँख मारकर अपने मजाहिया अन्दाज में उसका ध्यान बँटाने की कोशिश करता. इस पर बेटा वयस्कों की तरह समझदार हँसी हँसता तो मैं एक पल को काँप जाता कि वह अपनी उम्र से कहीं ज्यादा परिपक्वता दिखा रहा है. मेरे लिए उसके ऑलओवर ए-प्लस ग्रेडिंग से ज्यादा महत्त्वपूर्ण उसके मन-मस्तिष्क का सर्वांगीण विकास था. रेनू सम्भवतः इसे नहीं समझती, लेकिन मुझे पूरा यकीन था कि बेटा इसे समझता होगा.

इस प्रकार के दोहरे मानदंड हमारे समाज की निर्मिति में बहुत गहरे तक धँसे हैं जिन्हें एकाएक उन्मूलित नहीं किया जा सकता. पाठ्य-पुस्तकों में हमारा देश आज भी सोने की चिड़िया है जहाँ दूध की नदियाँ बहा करती हैं. मोरल साइंस की पुस्तकों में हम अपने बच्चों को पढ़ाते हैं कि झूठ नहीं बोलना चाहिए, लेकिन व्यावहारिक जीवन में वे पाते हैं कि हम स्वयं इस आप्तवचन को पूरी तरह अमल में नहीं ला पा रहे. परीक्षा में अव्वल आने के लिए उन्हें जानते-बूझते इस तरह के झूठ लिखकर कॉपियाँ रँगना होती हैं. एक बार जब हम सिनेमा देखकर देर रात लौटे, नतीजतन सुबह समय पर आँख नहीं खुली और बेटा स्कूल नहीं जा पाया, अगले दिन उसकी डायरी में अनुपस्थिति का कारण लिखते हुए एकाएक मेरी समझ में नहीं आया कि क्या लिखूँ. मुझे आश्चर्य इस बात पर हुआ कि मुझे पसोपेश में पड़ा देख बेटे ने ही सुझाया कि पापा लिख दीजिए, एब्सेंट ड्यू टु फीवर.

मजेदार यह है कि यदि कभी इस तरह की चीजें मुझे दुखी कर जातीं तो रेनू को लगता कि मुझमें चुपके से चले आये मेरे पिता के काव्य-संस्कारों की वजह से ऐसा है. मैं कोशिश करता कि ऊपर से कभी प्रकट न हो, लेकिन स्वीकार करता हूँ कि सभ्यता के इस तरह के छोटे छल-छद्म मुझे हर बार आहत कर जाते. शायद इसी वजह से स्कूल-कॉलेजों में मेरे मार्क्स कम आये हों, लेकिन दुविधा यह थी कि अब रेनू के साथ-साथ मैं भी चाहता था कि मेरा बेटा अपनी कक्षा में अव्वल आये.

दिक्कत की बात यही थी कि बेटा अब तक हमेशा अपनी कक्षा में अव्वल आता रहा है. जैसे पिता के बारे में मैं अनभिज्ञ हूँ कि उन्होंने अपने समय से भिड़न्त के लिए किन रास्तों का अन्वेषण किया होगा, वैसे ही मैं इस बाबत भी सर्वथा अनजान था कि बेटे के अव्वल आने में उसकी प्रतिभा का कितना योग है और सोने की चिड़िया या दूध-दही की नदियाँ अथवा एब्सेंट ड्यू टु

चित्र : राजेंद्र गायकवाड़

फीवर जैसे छल-छद्मों का कितना. रेनू की बदौलत मैंने इतने तक का समझौता तो कर लिया था कि मेरे पिता के विपरीत अपने जीवन में तथाकथित सफलता को पाने के लिए ये अनिवार्य हो चले झूठ मेरे बेटे को बोलने होंगे, वह बोले, लेकिन मैं बस इतना और चाहता था कि वह इन्हें अन्ततः झूठ का ही दर्जा दे, कभी इन्हें सच का ओहदा न बख्शे. वह इस बारे में सदा सचेत रहे. मेरी दिली ख्वाहिश थी कि यह सचेतनता उसे मुझसे न सही, मेरे पिता की आनुवांशिकी से जरूर प्राप्त हो, भले इसकी कीमत चुकाने के लिए उसे थोड़ी-बहुत असफलता का स्वाद क्यों न चखना पड़े. कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं यह रेनू से छिपाकर चाहता आया था.

सभ्यता की सबसे बड़ी खामी यह थी कि इन झूठों को झूठ मानते हुए भी आखिरकार सच का दर्जा दे दिया जाता था और इसका पूरा कारोबार ऐसे ही झूठे सच पर टिका हुआ था. बेटे की कक्षाध्यापिका इस बात से भली-भाँति परिचित थीं कि स्कूल से मिलने वाले प्रोजेक्ट्स बच्चे स्वयं नहीं, बल्कि उनके अभिभावक सम्पन्न किया करते हैं, लेकिन उनकी ग्रेडिंग इसी के आधार पर होती थी. उन्हें सचमुच की बधाइयाँ दी जातीं, बच्चे सचमुच के शुक्रगुजार होते. मैं चाहता था कि ऐसे अवसरों पर मेरा बेटा 'आ'म वेरी प्राउड ऑव दिस अकम्प्लिसमेंट' अथवा 'स्काई इज द लिमिट' भले बोले, लेकिन यह बोलते हुए उसकी आवाज बस

जरा-सी लड़खड़ाये.

'पब्लिक स्पीकिंग...' पैरेंट्स-टीचर 'मीट ऐंड ग्रीट' में उसकी कक्षाध्यापिका हमसे मुखातिब होते हुए कहतीं, "पब्लिक स्पीकिंग में फ्लुएंसी आये, माइक पर बोलते हुए आपका बच्चा नर्वस न हो– इस दिशा में आपको अभी मेहनत करनी होगी." यह कहने के साथ उन्होंने जोड़ा, "हम अपनी तरफ से प्रयास कर रहे हैं, कई बार वे असेम्बली को सम्बोधित कर चुके हैं, बट..." वे एक पल रुकीं, और फिर उदारता-भरी थकान में लिथड़ता उनका अन्तिम वाक्य था, "...बट अब भी ऐसे मौकों पर इनकी आवाज लड़खड़ाने लगती है."

विद्यालय की वे पुरानी शिक्षिका थीं. स्पष्टतया अब तक अपनी हर बात को इस प्रकार अभिव्यक्त करने में पटु हो चली थीं जिसमें चेतावनी और सलाहियत की सन्तुलित घुलमिल हो. उनकी बात के पूरा होते ही मैंने तुरन्त रेनू को देखा, कक्षाध्यापिका का एक-एक वाक्य अपनी समस्त प्रभावान्विति के साथ उसके चेहरे पर दर्ज होता जा रहा था. हाव-भाव पादरी के समक्ष अपने गुनाह कबूलने आये किसी व्यक्ति-से विगलित, किन्तु प्रस्तुत. मैंने पुनः कक्षाध्यापिका की तरफ देखा, उनके बाल छोटे-छोटे व रोशनी पड़ने पर लाल रंग में उद्भासित होते थे. बालों का यह अप्राकृतिक रंग चौंकाता नहीं था, बल्कि ऐसे माहौल में अनिवार्य प्रतीत होता था. वह जब-जब मुस्करातीं, जैसे सुपर मार्किट वाली लड़की प्रिंटेड बिल के साथ छुट्टे के बदले टॉफी पकड़ाते हुए मुस्कराती है. ऐसी मुस्कराहट, जिसके उत्पादन के लिए अन्तर्मन की संलग्नता की आवश्यकता नहीं, जो चेहरे की त्वचा की आनुपातिक स्फीति व संकुचन-मात्र से निर्मित हो जाती है. मुस्कराहट नहीं, उसकी प्रतिकृति-मात्र.

घर लौटने के रास्ते में रेनू चुप ही बनी रही. उसका मौन इस बात का द्योतक था कि वह मन-ही-मन लिये गये किसी फैसले का अभी मूल्यांकन कर रही है. यह उसका स्वभाव था, जब तक वह हर पहलू पर अच्छे से विचार करने के बाद मुतमईन नहीं हो जाती, अपने उस निर्णय को उजागर नहीं करती. मैं चाहता था कि इससे पेश्तर कि वह पत्थर की लकीर जैसे किसी फैसले तक पहुँचे, हम घर पहुँच जाएँ. इससे उसकी विचार-शृंखला टूटती, उसका मनन बाधित होता और यह स्थगन कक्षाध्यापिका के द्वारा निर्मित उस तनाव के बन्धन को तनिक ढीला ही करता जिसने अभी रेनू के मुखमंडल तक को कस दिया था.

"रेनू, एक नजर उसकी मार्कशीट पर भी डालो. पिछली बार से ज्यादा आये हैं हर सब्जेक्ट में. एसएसटी में तो ए-प्लस-प्लस." मैंने अपनी नजर रोड पर रखते हुए ही डैशबोर्ड पर पड़ी मार्कशीट को उसकी तरफ बढ़ाया. असर हुआ. वह स्कूल में देखे गये रिपोर्ट कार्ड को फिर से देखने में मशगूल हो चुकी थी.

इस बीच मुझे कहना था, "तुम्हें अपना प्रॉमिस याद है न? हमने वादा किया था कि इस बार भी मन-मुताबिक मार्क्स आने पर उसे फिल्म दिखाने ले जाएँगे."

"हूँ." रेनू ने गहरे निःश्वास के साथ कहा. हम घर पहुँच चुके थे. दरवाजा बेटे ने ही खोला.

"संगीता चली गयी?" रेनू ने प्रवेश करते हुए डोमेस्टिक हेल्पर की बाबत पूछा. संगीता के कामों से वह सदा नाखुश रहा करती है. यह सोचकर मुझे अच्छा लगा कि अभी वह संगीता के द्वारा किये गये झाड़ू-बर्तन का निरीक्षण करने में थोड़ी देर के लिए व्यस्त हो जाएगी. मैंने दरवाजा बन्द करते हुए रिपोर्ट कार्ड बेटे को थमाया. उसके कन्धे पर हाथ रखा और उसे कांग्रेचुलेट करते हुए बताया कि आईनॉक्स में स्पाइडरमैन वाली वह मूवी चल रही है जिसका उसे पिछले कई महीनों से इन्तजार था. दरअसल वह भुलक्कड़ है, फिल्म दिखाने की जिद करना है, यह भूल चुका होगा. रेनू ने अपना पर्स सोफे पर पटका और वॉशरूम की तरफ बढ़ते हुए बोली, "सुनो, जब पीटीएम के लिए तुमने आज ऑफ ले ही लिया है तो बाप-बेटे पिक्चर भी देख आओ. मेरा मन नहीं वो सब देखने का." उसका इशारा मार्बल फिल्मों की तरफ था जिन्हें देखना उसे कतई नहीं रुचता था.

बेटे ने उसे भी साथ चलने की जिद करनी चाही तो मैंने उसका हाथ दबा दिया. तत्काल ही हमारे बीच वही गोपनीयता बहाल हो गयी जो अकसर तब हुआ करती थी जब उसे अपनी माँ से छिपाकर अपने लिए कोई जिद करनी होती है.

मुझे पता न था कि आसपास कहीं पशुओं का अस्पताल है भी कि नहीं, लेकिन बेटे ने ही मेरा मोबाइल लेकर सर्च कर लिया और अब हम गूगल मैप द्वारा बताये गये ठिकाने पर पहुँच चुके थे. गाड़ी में पैसेंजर सीट पर बैठा बेटा एक हाथ में मोबाइल और दूसरे हाथ के सहारे अपनी गोदी में कुत्ते के उस बच्चे को सँभाले हुए था, जो हमें रास्ते में कराहता हुआ मिला था. हम बाप-बेटे सिनेमा देखने निकले थे और कॉलोनी से बाहर आकर जैसे ही हाइवे के लिए मोड़ लिया, बायें हाथ के फुटपाथ से लगकर चित्त पड़ा हुआ यह पिल्ला बेटे को दिखा था.

"पापा, स्टॉप... स्टॉप!" वह पीछे छूट चुके उस पिल्ले पर निगाहें रखे अपनी सीट से लगभग पलट ही चुका था. हमारे रुकते ही सीट बेल्ट हटाकर फौरन नीचे उतरा और भागते हुए वहाँ तक पहुँचा. मैंने गाड़ी साइड से लगायी और झींकते हुए उसके पास पहुँचा.

ऐसा प्रतीत होता था कि वह पिल्ला किसी वाहन की चपेट में आकर फुटपाथ के पास फिंक गया था. उसकी आँखें पलट रही थीं, धुकधुकी चल रही थी. चूँकि उसके शरीर में कहीं से खून नहीं रिस रहा था, सो कहना मुश्किल है कि चोट कहाँ और कितनी लगी थी. बस उसके इर्द-गिर्द की अप्राकृतिक रूप से ठहरी हुई हवा उसके अन्दरूनी क्षत का सुराग देती थी. जब बेटे ने उसे जतन से

लघुकथा

गंदी आदत

राबिका सदा

मजदूरिन की करीब दस साल की लड़की रोज टिफन देने आती है फैक्ट्री में. दो रोज पहले खूब बारिश हुई थी, उससे फैक्टरी के दरवाजे पर कीचड़ ही कीचड़ हो गया था. लड़की उस कीचड़ में से खेलती कूदती आती और अपनी माँ को टिफन दे जाती. रोज देखता– उसके पैरों में चप्पल नहीं है और नंगे पैर ही आती है.

घर पर बैठा हुआ था तो देखा सामने रेक में छोटी बेटी के पांच छह जोड़ जूते चप्पल रखे हैं. उनमें से एक जोड़ी पुरानी चप्पल छांट ली और अपने साथ फैक्ट्री लेता गया. जैसे ही मजदूरिन की लड़की अपनी माँ को टिफन देने आयी, उसी समय उसे चप्पल दी और कहा, "बेटा, कल से ये पहनकर आया कर." लड़की ने माँ की तरफ देखा, माँ ने इशारे से चप्पल लेने से इनकार किया.

"क्यों, क्या हुआ?" पूछा, लगा शायद उतरी हुई चप्पल है, इसलिए इनकार कर रही है.

"नहीं साहब, ये चप्पल टूट गई तो फिर कहाँ से लाएंगे? ये गंदी आदत नहीं लगानी अभी से." उसने कहा तो लगा, जैसे चप्पल मेरी पिटाई कर रही है. ▣

सम्पर्क : ईमेल : rabikasada@gmail.com

उठाया, एक हल्की कूँ-कूँ की आवाज-भर आई और पिल्ले ने गर्म आश्वस्ति में अपनी आँखें मूँद लीं.

मैंने घड़ी देखी. सिनेमा के लिए हमें देर हो रही थी. पिल्ले को उठाकर कहीं किसी सुरक्षित स्थान पर रख दें और अपने रास्ते आगे बढ़ जाएँ, यही बस हो सकता था. लेकिन तभी...

फुटपाथ के पास उकडू बैठे बेटे ने उसे अपनी गोदी में लिये-लिये चेहरा उठाकर जब मेरी तरफ देखा, मुझे वह दिखा जिसे मैंने आज तक अपनी आँखों में ढूँढ़ा किया था. बेटे की आँखों में मेरे पिता की आँखें उतर आई थीं.

"घर तो नहीं ही लेकर जा सकते इसे. तुम जानते हो कि ममा भड़क जाती हैं कुत्ते-बिल्लियों को देखकर." मैंने फौरन कहा. मेरे कहने की त्वरा में अभी-अभी बेटे की आँखों में उग आये अपने पिता को दरकिनार करने का भाव था.

"घर नहीं, इसे किसी अस्पताल में ले चलते हैं. शायद बच जाए." बेटे ने जैसे फैसलाकुन होकर उठते हुए कहा. अपनी माँ की अनुपस्थिति में मुझ पर सदा से उसकी चलती आई है, सो मेरे हाँ-ना की उसे आवश्यकता ही न थी. वह गाड़ी की दिशा में बढ़ चुका था. बिना मुड़े उसने मेरे लिए आवाज लगायी, "कम-ऑन पापा, जल्दी चलते हैं."

"और तुम्हारा स्पाइडरमैन?" मैंने गाड़ी का दरवाजा खोलते हुए उससे पूछा. इतने वह अपनी सीट पर बैठ चुका था. कोई जवाब न देकर आर्मरेस्ट के पास रखे मेरे मोबाइल को उठाकर देखने लगा कि आसपास पशु चिकित्सालय कहाँ है! पिल्ले को उसने एहतियात के साथ अपनी गोद में जमा लिया था.

और अब हम उसके बताये स्थान तक पहुँच चुके थे. कोई शॉपिंग कॉम्प्लेक्स था जहाँ दूर-दूर तक बस दुकानें ही दुकानें दिखती थीं. कॉम्प्लेक्स पुरानी तर्ज का था. पहले भी इस तरफ कई बार मेरा आना-जाना हुआ था, लेकिन आस-पास की इमारतों के साथ अपने सामंजस्यपूर्ण विन्यास के कारण इस पर मैंने पहले कभी ध्यान नहीं दिया था. आजकल के शॉपिंग कॉम्प्लेक्सों में जिस बहुतायत के साथ काँच और शीशों के चमकीले प्रयोग हुआ करते हैं, वह यहाँ सिरे से नदारद था. निर्माण के शुरुआती दस-पन्द्रह सालों तक किसी भी इमारत में नयेपन की जो चौंध रहती है, वह भी अब तक बुसिया चली थी.

"आर यू श्योर, यही वो जगह है?" पार्किंग लॉट में गाड़ी को लगाते हुए मैंने पूछा. पार्किंग प्लेस का लगभग पूरा फर्श ही परिन्दों के सूख चुके बीट से सफेद और खरखरा हो रहा था.

वह पिल्ले को बाँहों में समेटे उतर चुका था. "लोकेशन तो यहीं का बता रहा है." उसने चारों तरफ नजरें बुहारते हुए कहा, "चलिये, किसी से पूछ देखते हैं."

एक-दो लोगों से पूछने पर कुछ पता न चला. हमने आसपास लगभग पूरे कॉम्प्लेक्स को छान मारा. अन्त में किसी दुकान वाले ने ही बताया कि दूसरी मंजिल पर बायीं तरफ कुछ दफ्तर हैं, एक बार उस लाइन में जाकर देख लिया जाए. लिफ्ट काम नहीं कर रही थी, सो हम सीढ़ियों से होकर जब दूसरी मंजिल पर पहुँचे, वहाँ दिन में भी झिरी अँधेरा घिर रहा था. छत पर जाले लगे थे और दीवारों की जड़ें जहाँ-तहाँ पान की पीकों से रँगी थीं. बायीं तरफ थोड़ा आगे बढ़ने के बाद एक कतार में कुछ अकाउंटिंग फर्म,

नोटरी, किताबों की एक पुरानी और वीरान दुकान, बीमा कम्पनी आदि के दफ्तर थे. वहीं वह वेटरनिटी क्लीनिक भी था जिसका पता मोबाइल पर दर्ज था.

"पापा, वो रहा!" बेटे ने चहककर कहा. पिल्ले को उठाकर यहाँ तक ले आने के दरम्याँ उसके व्यवहार में जो एक वयस्काना रवैया चला आया था, क्लीनिक को खोज लेने के बाद उसकी आवाज की यह चहक उसे वापस बच्चा बना रही थी. हालाँकि मुझे उसका फिर से पुराने नटखट बच्चे में तब्दील हो जाना अच्छा लगा, लेकिन क्या पता इस बीच शायद उसे देखने की मेरी नजर ही बदल चुकी हो! क्या अब दुबारा मैं उसे पहले की तरह अपनी अँकवारी में भर सकूँगा?

शायद यह पहले कोई ट्रैवल एजेंसी रही हो, क्योंकि क्लीनिक की दीवारों पर विश्वप्रसिद्ध जगहों एवं इमारतों के पुराने पिक्चर कैलेंडर लगे थे. फर्नीचर भी पुराने थे, जिनसे नये पेशे के मुताबिक नयी तरह के काम लिये जा रहे थे. क्लीनिक में और कोई न था, बस एक वेटरनरी डॉक्टर बेंत की कुर्सी पर बैठे अखबार पढ़ रहे थे. मेरे समवयस्क ही होंगे, या एकाध साल बड़े, लेकिन पूरी तरह गंजे हो चले थे. सम्भवतः वे देर से अकेले बैठे थे, इस कारण उनके इर्द-गिर्द उनींदी-सी विरक्ति पसरी थी. ऊब और खालीपन की क्लान्ति से उनकी आकृति के तीखे कटाव नरम व मुलायम हो रहे थे. उन्होंने मुस्कराकर हमारा अभिवादन किया और जैसे उन्हें हमारे आने की पूर्वसूचना हो, बिना कुछ पूछे-ताछे बेटे की गोद में चिपटे पिल्ले को टटोलकर देखने लगे.

बेटा सम्भवतः यह बताने के विस्तार में था कि कैसे उसने सड़क के किनारे इसे लगभग अचेतावस्था में पाया और उसे लेकर यहाँ तक आने में हमें कितनी मशक्कत उठानी पड़ी, लेकिन चिकित्सक को जैसे इन सबमें कोई दिलचस्पी ही न थी. बेटे के भीतर एक कातर-सा प्रवाह था जो तवज्जो न पाकर सहसा अवरुद्ध हो रहा था. कई टूटे-फूटे वाक्यों और पलस्तर उखड़े खंडित शब्दों की मार्फत प्रयास करने के बाद अन्ततः बेटे ने पिल्ले को पूरी तरह उनके हवाले कर दिया और कन्धा झुकाये मेरे पास आ खड़ा हो गया. मैं अब तक दरवाजे से लगकर खड़ा उसकी इन भाव-मुद्राओं को देखे जा रहा था. उसके इर्द-गिर्द स्वयं के अन्ततः अप्रकाशित रह जाने की हतोत्साही हवा थी. यह हारी हुई भंगिमा, यह आहत असफलता खास उसके सन्दर्भ में मेरे लिए नयी होते हुए भी जाने क्यों मुझे अत्यन्त परिचित-सी प्रतीत हुई. मैंने पीछे से उसके कन्धे पर अपना हाथ रख दिया. इतने-भर से ही वह अचानक मुड़ा और मेरे सीने से लगकर फूट-फूटकर रोने लगा. उस वक्त एक मैं ही था जो यह समझ सकने में पूरी तरह समर्थ था कि उसके इन आँसुओं का उस घायल कुत्ते के बच्चे से कोई सम्बन्ध न था. मैंने उसे अपने में भींच लिया.

चिकित्सक ने यही समझा होगा कि यह पिल्ला उसका पालतू है जिसकी इस अवस्था ने उसे इतना तोड़ दिया है. वे इसकी माँ को, इसकी कक्षाध्यापिका को नहीं जानते और न ही उन्होंने मेरे पिता की कविताओं को पढ़ रखा होगा. एक किस्म के अप्रीतिकर उत्साह से भरकर उन्होंने बस इतना ही कहा किया कि चिन्ता की कोई बात नहीं बेटे, तुम अपने पपी को सही समय पर उपचार के लिए ले आये. मैं सब ठीक कर दूँगा, तुम हौसला रखो. भाईसाब, इसे सँभालिये.

मरहम-पट्टी के बाद चिकित्सक द्वारा सुझाये गये एक पेट केयर सेंटर में उस पिल्ले को छोड़कर जब दो-ढाई घंटे बाद हम घर लौटे और दरवाजा खोलते ही रेनू ने फिल्म के बारे में पूछा तो इससे पहले कि मैं कुछ कहता, बेटे ने चहककर कहा कि गजब की थी! यह कहते हुए उसने मेरा हाथ ठीक उसी लहजे में दबा दिया, जैसा कि मैंने किया था जब वह अपनी माँ को भी साथ चलने का आग्रह करने वाला था. घर में प्रवेश करते हुए वह कह रहा था, "मम्मा, तुम्हें भी चलना चाहिए था. स्पाइडरमैन का जवाब नहीं! आयम श्योर, तुम भी एन्जॉय करतीं." अब भी उसकी आवाज में वही चहक थी, लेकिन पीछे खड़े होने की वजह से मैं बेटे की आँखों को न देख सका.

इस घड़ी बेटे की आवाज को लड़खड़ाना चाहिए था या नहीं, इसका फैसला आप पर छोड़ते हुए मैं फिलहाल रेनू से एक कप चाय की फरमाइश करता हूँ. ▣

कुणाल सिंह

जन्म : 22 फरवरी 1980, कोलकाता.

शिक्षा : हिन्दी साहित्य से एम.ए., एम. फिल..

कृतियाँ : सनातन बाबू का दाम्पत्य, इतवार नहीं, अन्य कहानियाँ तथा झूठ (कहानी-संग्रह), आदिग्राम उपाख्यान, रोमियो जूलियट और अँधेरा (उपन्यास). लगभग सभी महत्त्वपूर्ण भारतीय भाषाओं में कहानियाँ अनूदित. 'आखेटक' पर फिल्म निर्मित एवं 'साइकिल कहानी' के कई नाट्य-मंचन हो चुके हैं.

सम्मान : साहित्य अकादेमी युवा पुरस्कार, भारतीय ज्ञानपीठ नवलेखन पुरस्कार, भारतीय भाषा परिषद युवा पुरस्कार, रवीन्द्र कालिया कथा सम्मान, कथा अवार्ड, विजयमोहन सिंह स्मृति कथा सम्मान आदि.

सम्प्रति : 'वनमाली कथा' मासिक का सम्पादन.

सम्पर्क : सी-3/304, फॉर्च्यून सौम्या हेरिटेज, आई.पी.एस. के निकट, होशंगाबाद रोड, मिसरोद, भोपाल-462026 (म.प्र.)

मो. : 9875370979